बालनाटक लिखते हुए...!

उपासना चौबे

बच्चों के लिए लिखना किस हद तक बड़ों के लिए लिखने से भिन्न है? बाल साहित्य, और खासकर बाल नाटक की क्या खूबियाँ होती हैं जो उसके असर और उसके मज़े को इतना अलग बनाती हैं? बच्चों के जीवन में नाटक कब कदम रखता है? और किस तरह उसका उपयोग बच्चे के व्यक्तित्व-विकास के लिए किया जा सकता है? ऐसे ही कुछ सवालों और बच्चों की दुनिया पर अन्तर्दृष्टियाँ पेश करता है यह लेख।

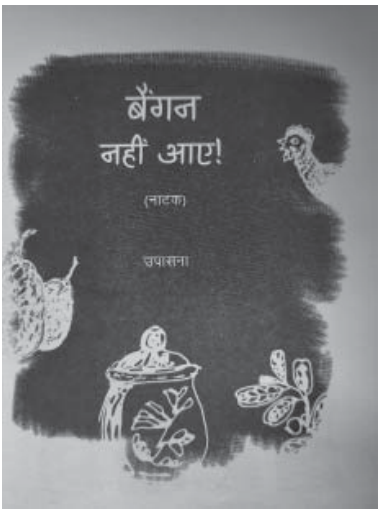

कोलकाता की संस्था 'थिंकआर्ट्स' द्वारा लेखकों के लिए आयोजित 'प्ले/राइट' नाम का एक ऑनलाइन रेसीडेंसी कार्यक्रम, जिसके तहत उपासना द्वारा तैयार किया गया बाल नाटक 'बैंगन नहीं आए', *एकलव्य* द्वारा प्रकाशित किया गया।

मैं अक्सर सोचती हूँ कि हम सब कितनी सारी चीज़ों से घिरे हुए हैं। एक वयस्क के रूप में जीवन और दुनिया को देखते हुए जब हम ऊब जाते हैं तो अक्सर अपनी उबाहट, अपनी चालाकियाँ और कुण्ठाएँ जाने-अनजाने हम बच्चों तक प्रेषित कर देते हैं। हम उन्हें अपने अनुभवों के हिसाब से सम्पादित और नियंत्रित करने की कोशिश करते हैं। हम भूल जाते हैं कि उनके लिए दुनिया अभी नई-नवेली और ताज़ी है। वे तो अभी सम्भावनाएँ तलाश रहे हैं, बगैर यह जाने कि सम्भावनाएँ क्या हैं। हमें तो अभी बहुत सारी चीज़ों से मुक्त होना बाकी है। वह तो भला हो किताबों का, जिन चीज़ों को अपना परिवार और समाज सामान्य कहता रहा, ये किताबें

ही थीं जिन्होंने सारी पोल-पट्टी खोल दी, जिन्होंने बताया कि चीज़ें इतनी सामान्य नहीं हैं। घर नैतिक शिक्षा की खान हैं जिसमें बच्चे के कुछ दिन बड़ों की नकल करते बीतते हैं। जब समझ आती है तब बच्चा उपदेश और आचरण का अन्तर भली-भाँति समझने लगता है।

मुझे लगता है कि किताबें मुझ तक देर से पहुँचीं। एक बच्चा रहे होने के क्रम में यदि अच्छी किताबें मिली होतीं तो बहुत-सी कुण्ठाओं और नकलीपन से मैं अपेक्षाकृत जल्द आज़ाद हो पाती। इनसे मुक्त होने में मेरी जो अतिरिक्त ऊर्जा लगी, उसके बनिस्बत कुछ रचनात्मक करने की कोशिश करती। इनसे आज़ादी एक सरल-सहज प्रक्रिया हो सकती थी, बशर्ते बच्चों तक सही किताबें पहुँचाई जाएँ।

बच्चों बनाम बड़ों का साहित्य

बच्चों के लिए लिखना मेरे लिए अनायास नहीं था। यह मेरी आन्तरिक इच्छा रही है कि बच्चों के लिए लिखूँ। हालाँकि, बच्चों का साहित्य और बड़ों का साहित्य, यह विभाजन ही कुछ अजीबो-गरीब लगता है। फिर भी मैं कहूँगी कि बड़ों की दुनिया का सबकुछ मैं बच्चों पर नहीं थोप सकती। मेरे लिए किसी सर्वसिद्ध तथ्य के पक्ष में तर्क देकर प्रमाणित करना कठिन है। मैं तर्क को समझते हुए एक-एक पायदान चढ़कर तथ्य तक पहुँचने में ज़्यादा सहज हूँ। जैसे कि मैंने एक संक्षिप्त-सा आलेख लिखने की कोशिश की - 'बच्चों का साहित्य बनाम बड़ों का साहित्य उर्फ सार्वभौम साहित्य'। शुरुआत में मैं इस अवधारणा के प्रति किंचित आश्वस्त थी कि साहित्य सार्वभौमिक होता है। इसे बच्चों और बड़ों के साहित्य में नहीं बाँटना चाहिए। जब मैंने लेख लिखने की कोशिश की तो मेरे तर्क मुझे किसी और ही दिशा में ले जा रहे थे। वहाँ अभी भी मेरे लिए बहुत कुछ अपरिचित है। मैंने शुरुआत में जो सोचा था, और जो अब समझ रही हूँ, वे एक-दूसरे के विपरीत हैं। पर यह गणित का कोई प्रामाणिक प्रमेय नहीं कि मैं गलत की जगह सही तर्क बिठाऊँ और अन्तिम सही उत्तर तक पहुँचकर, प्रमेय सिद्ध हुआ, लिख दूँ। बेशक, साहित्य और कला में भी एक गणितीय अनुशासन है पर वह बिलकुल भिन्न प्रकार का है। गणित संशय का समाधान करता है। साहित्य में संशय, सत्य की ओर बढ़ने का एक रास्ता है। परन्तु अन्तिम

सत्य जैसा साहित्य में कुछ नहीं, बल्कि गणित में विदित है। और गणित में जहाँ नहीं है, वहाँ अनन्त (∞) है। यह एक मात्र धरातल है जहाँ साहित्य और गणित एक हो जाते हैं।

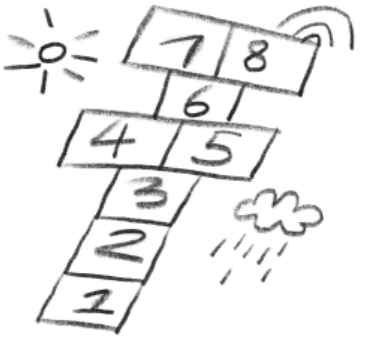

बहरहाल, जिसे हम बाल साहित्य कहते हैं, क्या उसे बड़ों के साहित्य से भिन्न होना चाहिए? यह प्रश्न एक दुधारी तलवार की भाँति है। यद्यपि बच्चे के लिए जो नया, अनूठा और आश्चर्यजनक है, वयस्क के लिए वे रोज़मर्रा की आम घटनाएँ हैं। तथापि वयस्क के लिए जो शब्द एवं अनुभव रूढ़ हो चुके हैं, देर सवेर वे भी बच्चे के दायरे में सम्मिलित होने वाले हैं। ध्यान देने वाली एक महत्वपूर्ण बात यह है कि बच्चों के लिए लिखी गई दुनिया की सारी क्लासिक और अच्छी कहानियाँ बड़ों के लिए समान रूप से रोचक, सरस और पठनीय हैं। किन्तु बड़ों का सबकुछ बच्चों के लिए नहीं है, हो भी नहीं सकता। यह एक बड़ा अन्तर है। यह अन्तर ही बताता है कि बच्चों के लिए लिखने से पूर्व अपनी समझ तथा अनुभवों को तटस्थ भाव से देखने तथा उन्हें लगातार संशोधित करते रहने की आवश्यकता है। ऐसा नहीं है कि आप सोचकर लिखते हैं कि बच्चों के लिए लिख रहे हैं। लेकिन कुछ तो ऐसा है जो बच्चों के लिए सटीक होता है। बच्चों की दुनिया में वह सबकुछ है जो एक वयस्क की दुनिया में होता है – कुण्ठाएँ, हिंसा, ईर्ष्या, घृणा, क्रोध, प्रेम। बस, वयस्कों की महत्वाकांक्षा को बच्चों की उम्मीद से बदल देना चाहिए।

बाल नाटक लेखन रेज़िडेंसी

पिछले साल तैरती हुई एक खबर मुझ तक पहुँच आई थी। कोलकाता की संस्था 'थिंक आर्ट्स' का (पराग-टाटा ट्रस्ट के सौजन्य से) 'राइटर इन रेज़िडेंट' का कार्यक्रम था जिसके अन्तर्गत बच्चों के नाटक तैयार करने थे। पहले-पहल मैंने इस खबर को टाल दिया। अचानक अन्तिम दिन याद आया कि ग्रेजुएशन के दिनों में बच्चियों को लेकर नुक्कड़ नाटकनुमा कुछ किया था। बाल नाटक तो उसे क्या ही कहेंगे, बस वह बड़ों के नाटक का अपरिपक्व बाल्य रूपान्तरण भर था। यह खयाल आया और रात के ठीक ग्यारह बजकर उनसठ मिनट पर मेरी एंट्री जमा हुई।

हम चार रेज़िडेंट थे। दो हिन्दी एवं दो अँग्रेज़ी से। पहले दिन का सेशन

ऑस्ट्रेलिया के बाल नाटककार फिनेगन क्रुकमेयर ने लिया था। शैली सथ्यू सम्पूर्ण नाटक रेज़िडेंसी के दौरान हमारी मेन्टर रहीं। उनसे नाटक, खासकर बाल नाटकों को लेकर बहुत कुछ सीखने को मिला। पहले दिन फिनेगन क्रुकमेयर ने बहुत-से टास्क दिए थे जिसमें सबसे पहला था – बचपन की ऐसी चीज़ जो आपको सबसे अधिक याद आती हो, उसका चित्र बनाएँ। चाहे जैसा बनाएँ। वह चीज़ कुछ भी हो सकती है। बस, जो दिमाग में सबसे पहले कौंधे, उसे चित्रांकित करना है।

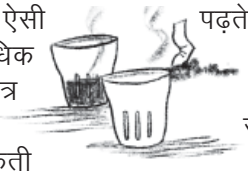

मैंने सबसे पहला चित्र साइकिल का बनाया। साइकिल मेरे बचपन का अभिन्न हिस्सा रही है क्योंकि आज़ादी का स्वाद मैंने साइकिल का हैंडल थामने के बाद ही चखा। दूसरा चित्र

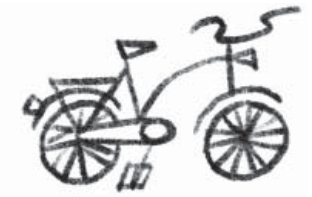

अरविंदो इंस्टीट्यूट का था। ऐसी जगह जहाँ नाटकों का प्रदर्शन होता था। प्रदर्शन से पूर्व कई दिनों तक अभ्यास चलते रहते थे। हॉल के एक कमरे में लाइब्रेरी बनी थी। रविवार की सूनी दोपहरी में हम कुछ बच्चे रंगों के साथ हॉल में उपस्थित रहते। यह कुछ अजीब था। अच्छा-सा अजीब... ऐसी जगह जहाँ रंग, किताबें और संवाद एक-साथ जुड़ते थे। खैर! पेंटिंग टीचर के इन्तज़ार के खाली समय में हम बच्चे उन अभ्यासरत कलाकारों को डायलॉग पढ़ते और बोलते सुना करते। बड़ा-सा मंच, मंच के नीचे हॉल में बिछी धूल सनी दरियाँ। दरियों पर बैठे नाटक पढ़ते कुछ लोग। बुझे सिगरेट के ठूँठ। राख, चाय की खाली प्यालियाँ। उनका संवादों का अभ्यास करना मंच पर संवाद बोलने से अलग था। जैसे वे पात्र के संवाद कहकर, पात्र को समझने की कोशिश कर रहे हों। हम बच्चों के लिए यह सब बहुत आकर्षक और रोचक था। कई बार पेंटिंग क्लास नहीं होने वाले दिन भी हम खिड़कियों की सलाखों से अन्दर झाँकते। उन्हें नाटक पढ़ते, संवाद के अभ्यास करते, सुधारते देर तक देखा करते।

फिनेगन के दिए अभ्यास पूरा करने के दौरान नाटक से सम्बन्धित मेरी सारी छोटी-छोटी स्मृतियाँ जो सुप्तावस्था में थीं, सहसा जाग उठीं। पहले सेशन का दूसरा टास्क स्मृतियों को किसी आकार में व्यवस्थित करना था... किन्हीं भी आकृतियों के रूप में।

तीसरा टास्क लिखने से सम्बन्धित था। उदाहरण के लिए, तुम मान लो कि जंगल में खो गई हो। सारे लोग तुम्हें ढूँढ़ रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तुमने जंगल में घूमते हुए जगह-

जगह अपने निशान छोड़े हैं। कोई एक व्यक्ति निशानों के सहारे तुम्हें ढूँढ़ने निकल पड़ा है... - अब इस कहानी को यहाँ से आगे बढ़ाओ। ऐसी ही कुछ और गतिविधियाँ भी थीं। इसके पश्चात अगले सत्रों में नाटक पढ़ने, उन्हें समझने और फिर चरित्रों का खाका खींचने की बारी आई। शैली जो हमारी मेंटर थीं, उन्होंने तरतीबवार चीज़ों को समझाया। एक नाटक जो बच्चों के लिए लिखा जा रहा है, उसे किस प्रकार अधिक सम्प्रेषणीय बनाया जा सकता है। ऑडियन्स ग्राफ (नाटक आरम्भ होने से लेकर नाटक के अन्तिम दृश्य तक लेखक दर्शकों के मन या मस्तिष्क में जो विचार, भावनाएँ या प्रश्न लाना चाहते हैं), किरदारों का टकराव, चरित्रों का सामाजिक, शारीरिक तथा मानसिक चित्रण – ये सारे पायदान एक-एक कर चढ़ते हुए मुकम्मल नाटक तक पहुँचना था।

लिखने की समझ

नाटक लिखने से पहले समझ साफ करनी थी। इसके लिए कुछ प्रश्नों की शृंखला का अभ्यास था। उन प्रश्नों के उत्तर तलाशना दरसल बाल साहित्य, और उसमें भी बाल नाटक लिखने की ज़िम्मेदारी को समझने जैसा था। उदाहरण के तौर पर एक प्रश्न था - यह जो नाटक आप लिखने जा रही हैं, उसके माध्यम से क्या सवाल पूछना चाहती हैं? या दर्शकों को क्या सवाल पूछने के लिए उकसाना चाहती हैं? इस सवाल पर काफी मशक्कत करने के बाद मैंने जो लिखा, वह इस प्रकार था - मैं नाटक के माध्यम से दर्शकों को यह सवाल पूछने के लिए उकसाना चाहती हूँ कि (वे यदि वयस्क हैं) क्या उन्होंने अपने आसपास के बच्चों को यथोचित आज़ादी दी है? उनके निर्णय तथा विचारों का सम्मान किया है? क्या उन्हें बच्चों के प्रति अपने व्यवहार पर पुनर्विचार करने की ज़रूरत महसूस होती है? बाल दर्शकों से मैं यह पूछना चाहती हूँ कि वे अपनी बात कैसे रखते हैं? और जब उनकी बातें नहीं सुनी या समझी जातीं तब अपना पक्ष रखने के उनके क्या प्रयास होते हैं?

बातचीत के इसी क्रम में आगे एक विचार यह भी रहा कि कोई भी चीज़ जो हम बच्चों के लिए रचते हैं, कोशिश होनी चाहिए कि उससे कुछ स्टीरियोटाइप अवधारणाएँ टूटें। उदाहरण के तौर पर माँ का चरित्र रचते हुए यह ध्यान रखें कि लैंगिक असमानताएँ आखिरकार घर से ही शुरू होती हैं। यदि बच्चों के अनुभव में माओं की छवि एक स्वतंत्र, स्वावलम्बी, मज़बूत महिला की है, जो तय किए गए पारम्परिक मानकों में बँधी नहीं है, तब हमारा यानी लिखने वालों का काम बच्चे के साथ-साथ चलता है। पर, अपने अनुभव से मैंने

जाना है कि बहुत-से बच्चे (जहाँ अभी भी लैंगिक असमानताएँ चरम पर हैं) फिक्शन में भी इन बदलावों के प्रति सहज नहीं होते। रचनाओं को कई बार उनका हाथ पकड़कर थोड़ा खींचना पड़ता है। पर यह तय है कि बार-बार यदि ऐसी चीज़ें उनसे कही जाएँ, उनके सामने रखी जाएँ तो कुछ हद तक तो ये जकड़बन्दियाँ ढीली होती जाती हैं।

अक्सर कहा जाता है कि बड़ों के तर्क से बच्चों का साहित्य नहीं लिखा जा सकता। कुछ हद तक यह सही भी है। किन्तु एक सचेतन प्रयास तो होता है कि हम क्या लिख रहे हैं, और बच्चों तक क्या पहुँचा रहे हैं। बच्चों से अक्सर कहा जाता है कि बच्चे हो, बच्चे की तरह रहो। बड़ों की तरह मत बोलो। तथाकथित बड़ों की तरह बोलने से आप एकबारगी बच्चे को रोक भी दें, किन्तु उसे सोचने से कैसे रोक सकते हैं? यह बच्चों का एक अनूठा रहस्य है कि वे (अनुभव और मौखिक अभ्यास के क्षेत्र में) कहाँ-कहाँ से क्या लेकर आ जाते हैं। बेशक, उनके पास आप जैसी सुसंस्कृत शब्दों की मानसिक डिक्शनरी न हो, किन्तु उनके पास ऐसे ढेरों शब्द होते हैं जो आपके लिए भले ही अर्थहीन हों, बच्चे के लिए वे असंख्य अर्थों से भरे होते हैं।

जन्मजात अभिनय

मेरी तीन साल की बच्ची दीवार

पर आड़ी-तिरछी रेखाएँ खींचती है। मुझसे पूछती है, "ये क्या है?" मुझे वह बेतुका-सा लगता है, पर मैं जानती हूँ कि उसके लिए 'यह' कुछ है। मैं कहती हूँ, "तुम बताओ क्या है?" वह कहती है, "बाँ-बाँ शिप है।" फिर उसने कुछ नई ध्वनियाँ ईजाद कीं। मुझे अक्सर कहती, "ममा, पितकु-पितकु।" पहले-पहल मैंने इसे नज़रन्दाज़ किया। फिर उसे समझने की कोशिश में उसकी वे ध्वनियाँ मैंने दुहरा दीं।

वह बोली, "ममा, पितकु-पितकु!"

मैं – आ, पितकु-पितकु-पितकु।

बच्ची – डॉगी भाग गया।

मैं - कहाँ भाग गया भई!

बच्ची – चारवी को देखकर डर गया।

यह उसका पसन्दीदा संवाद है। वह इसके टोन एवं इसके लहज़े को हू-ब-हू याद रखती है। अक्सर मेरे व्यस्त रहने या आसपास न होने पर वह अकेली ही अपने और माँ के हिस्से के संवादों की भी अदायगी करती है।

दरअसल, बच्चों में ड्रामे-बाज़ी

जन्मजात होती है। यह हर बच्चे का पसन्दीदा शगल है। बच्चा रोता है। रोने पर अमूमन उसकी बात सुन ली जाती है। उसे बहलाने की कोशिश की जाती है। आगे जब कोई काम बच्चे के मन माफिक न हो पाए तब, रोना न आने की स्थिति में भी वह रोने का अभिनय करता है। उसकी आवाज़ का आरोह-अवरोह, चेहरे के भाव रोने का-सा माहौल बनाते हैं। यह पहली बार है जब वह बिना नाटक को जाने नाटक करता है। बड़ों की भूमिका बस इतनी है कि बच्चे के सहज स्वाभाविक कौशल का इस्तेमाल कर उसके अनुभव और संवेदना के दायरे को फैलाएँ। उसके व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास हेतु इस कौशल का उपयोग एक संसाधन के रूप में बखूबी किया जा सकता है।

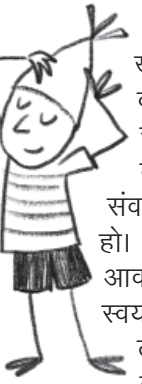

नाटक में जान डालते संवाद

आम तौर पर यह माना जाता है कि नाटक सामाजिक विधा है क्योंकि बच्चे ही नहीं, अभिभावक और अन्य सभी भी उसके दर्शक होते हैं। बिलकुल, नाटक एक सामाजिक विधा है किन्तु यह सिर्फ एक सामाजिक विधा ही नहीं है। नाटक जितना सामाजिक होता है, उतना एकान्तिक भी। एकान्त में पढ़ा जा रहा नाटक भी बच्चे को उतना ही समृद्ध कर सकता है जितना मंच पर खेला जा रहा नाटक करेगा। वस्तुतः नाटक संवादों में चल रही कहानी ही तो है। ऐसी कहानी जिसे बच्चा अकेले में संवादों को बोल-बोलकर पढ़ रहा हो। थोड़े मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। फिर बच्चा स्वयमेव लहज़ा और सुर पकड़ लेता है। संवादों को बोल-बोलकर पढ़ते हुए वह कल्पना के मंच पर पहुँच जाता है। दृश्य उसकी कल्पना में सजीव हो उठते हैं।

मेरी अपनी स्मृति में काले जिल्द वाली इंटरमिडीएट की एक किताब है। दूसरी कक्षा में पढ़ने वाली बच्ची के हाथ ग्यारहवीं की हिन्दी की पाठ्यपुस्तक लगी थी। पुस्तक में दहेज प्रथा पर कोई नाटक था। नाटक तो याद नहीं, किन्तु नाटक की नायिका का एक संवाद हू-ब-हू याद रह गया, "नहीं पिताजी, मैं पढ़ना चाहती हूँ। अपने पैरों पर खड़ी होना चाहती हूँ।" बेशक आठ साल की बच्ची के लिए यह कुछ बोझिल था, किन्तु न समझने योग्य नहीं था। वह आनन्द जो उसे बोल-बोलकर पढ़ते हुए आया, जस-का-तस स्मृति में दर्ज हो गया।

नाटक पढ़ना, नाटक करने या नाटक देखने जितना ही मनोरंजक है। संवाद नाटक का प्राणतत्व है। बाल नाटकों में यह विशेष तौर पर ध्यान देने योग्य है कि संवाद छोटे

होने चाहिए। छोटे किन्तु रोचक, मज़ेदार। व्याकरण के गणित को फिलहाल के लिए किनारे रखकर संवादों की रचना करनी चाहिए। ऐसे संवाद जिनसे बात पूरी हो। वे बेढंगे-से भले हों, किन्तु ज़ुबान पर चढ़ जाने लायक हों। संवादों में इतनी गुंजायश होनी चाहिए कि बच्चे अपनी कल्पनाएँ, अपने शब्द, अपने मुहावरे उनमें जोड़ सकें। अमूमन तुकान्त और लयबद्ध संवाद बच्चों को जल्द आकर्षित करते हैं। ऊलजलूल शब्द और कविताएँ अक्सर नाटक को रोचक बनाते हैं।

नाटक को एक कहानी की भाँति पढ़ते हुए बच्चा, पाठक होता है और एकमात्र अभिनेता भी। अलग-अलग किरदारों के संवाद बोलते हुए भिन्न-भिन्न चरित्रों का आस्वाद उसकी संवेदना तक पहुँचता है। अपनी देह भाषा और अपने भावों को वह चरित्रों के अनुरूप ढालने की कोशिश करता है। ऐसे में नाटक के प्रत्येक पात्र से बच्चे की निजी तारतम्यता स्थापित होती है। यह प्रक्रिया बच्चे को निरपेक्ष भाव से चीज़ों को देखने, परखने व चिन्तन की ओर प्रवृत करती है। बच्चे का आत्मविश्वास बढ़ता है। किन्तु

एक लेखक के तौर पर नाटक लिखना, कहानी लिखने से बिलकुल भिन्न है। कहानी भूतकाल की स्थिति का वर्णन होती है, वहाँ सब कुछ 'था' होता है। वहीं नाटक में तत्काल घटित होता हुआ वर्तमान है। इसलिए वहाँ सारे संवाद और दृश्य 'हैं' में रचे जाते हैं।

मेरे लिए यह चुनौतीपूर्ण रहा। यह समझना कि कहानी लिखते वक्त मनचाही छूट लेने का अवसर नाटक में उपलब्ध नहीं है। वर्तमान को लिखते हुए, उसके परिवेश और किरदारों का मेल-जोल सहज बनाए रखना होता है। इस नाटक को लिखते हुए मैं एक लेखक और मनुष्य के तौर पर थोड़ी और समृद्ध हुई। नई चीज़ें सीखीं और कुछ भी नया सीखना (यदि वह आपकी रुचि का है तो) एक अद्‌भुत अनुभव है।

उपासना चौबे: कुछ वर्षों के अध्यापन के पश्चात अब स्वतंत्र लेखन करती हैं। उनके दो कहानी संग्रह, एक बाल उपन्यास तथा एक बाल नाटक की पुस्तकें प्रकाशित हुए हैं। 'भारतीय ज्ञानपीठ नवलेखन' पुरस्कार सहित दो अन्य प्रतिष्ठित सम्मान प्राप्त।

सभी चित्र: सौम्या मैनन: चित्रकार एवं एनिमेशन फिल्मकार। विभिन्न प्रकाशकों के साथ बच्चों की किताबों एवं पत्रिकाओं के लिए चित्र बनाए हैं। बच्चों के साथ काम करना पसन्द करती हैं।